हिन्दी आलोचना की परम्परा में आलोचना पत्रिका

इमरान अंसारी

शोध सारः

प्रस्तुत लेख हिन्दी आलोचना की परम्परा पर बात करते हुए हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा को रेखांकित करता है। हम जानते हैं की आधुनिक हिन्दी साहित्य के उद्भव के साथ न सिर्फ साहित्य का परिप्रेक्ष्य बदला अपितु आलोचना के स्वरूप में भी व्यापक बदलाव हुए। जिसमें एक तरफ विचारधारा का समावेश हुआ तो दूसरी तरफ विचारधारा केन्द्रित लेखकों और आलोचकों की मंडली तैयार हुई। जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य में लिखने–पढ़ने और चिंतन करने की एक नयी परिपाटी विकसित हुई। आलोचकों के बीच इस टकराव की स्थिति को इस लेख में प्रस्तुत किया गया है। शिवदान सिंह चौहान किस उद्देश्य से आलोचना जैसी पत्रिका को निकलने की जरूरत महसूस कर रहे थे तथा आलोचना पत्रिका के उद्भव के बाद हिन्दी–चिंतन में व्याप्त गतिरोध को कहाँ तक पाटा जा सका इसे भी इस लेख में प्रस्तुत किया गया है।

शोध विश्लेषणः

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'गद्य काल' कहते हैं। यह काल हिंदी साहित्य में व्यापक परिवर्तन का काल रहा है। यह परिवर्तन उपन्यास, कहानी जैसी विधाओं के जन्म के साथ ही रचना की भाषा, कथानक और उसके पात्रों के सन्दर्भ में भी रहा। इस परिवर्तन का एक दूसरा पहलू देखें तो इस काल में साहित्य का उद्देश्य भी परिवर्तित हुआ। हम जानते हैं कि यह समय भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का भी समय रहा है। जिसका सीधा असर हिंदी साहित्य में देखने को मिलता है। इसका वैचारिक स्तर पर जुड़ाव समाज और साहित्य पर दिखाई देता है। जिसके परिणामस्वरूप गांधी के अहिंसावादी सिद्धांत को आधार बनाकर कई रचनाओं को लिखा गया। कुछ रचनाकारों द्वारा तो, खुद को गांधवादी विचारधारा का रचनाकार भी घोषित किया गया लेकिन 1936 के बाद मार्क्सवाद के प्रभाव से हिंदी साहित्य में वैचारिक स्तर पर लेखन का स्वरूप परिवर्तित हुआ। इस प्रभाव ने हिंदी साहित्यकारों के साथ–साथ आलोचकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी प्रभावित किया। इस समय के हिंदी आलोचकों में रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, अमृतराय को देखा जा सकता है। सामाजिक स्तर पर इस आंदोलन द्वारा साम्राज्यवाद के विरोध के साथ ही किसानों, मजदूरों,

महिलाओं तथा समाज के सर्वहारा वर्ग की वकालत की गयी। इस विचारधारा के असर से गांधी का आंदोलन तो फीका पड़ा ही, साथ ही भारतीय समाज के एक बड़े वर्ग का गांधीवाद से मोह भंग भी हुआ। मार्क्सवादी विचारों को आधार बनाकर ही 'गरम दल' की स्थापना की गई। जो कई मायनों में गांधी के सिद्धांतों से अलग तथा प्रतिक्रियावादी भी रहा। इस विचारधारा के प्रभाव से साहित्य के साथ–साथ आलोचना की स्थिति में भी बुनियादी परिवर्तन हुए। अब साहित्य का मूल्यांकन रचना में निहित सामाजिक प्रतिबद्धता के आधार पर आरंभ हुआ। साथ ही साहित्य का रूप, उसकी भाषा, उसके कथ्य तथा उसका सौंदर्यशास्त्र भी बदला। पहले जहाँ स्त्री के रूप–रंग उसके चलने का ढंग के आधार पर उसके सौंदर्य को देखा जाता था। वहीं अब कामकाजी स्त्रियों, मजदूरों और सर्वहारा के जीवन को देखने का नया नजरिया प्रस्तुत किया गया। यह साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र था। जिसके द्वारा पाठक के सौंदर्यबोध को भी बदलने की कोशिश आरंभ हो चुकी थी। इस सौंदर्यबोध को निराला की कविता 'वह तोड़ती पत्थर' में देखा जा सकता है – "वह तोड़ती पत्थर / देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर / ...श्याम तन, भर बंधा यौवन / तन नयन, प्रिय कर्म रत मन / गुरु हथौड़ा हाथ / करती बार–बार प्रहार / ...सजा सहज सितार / सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार /...'मैं तोड़ती पत्थर।" [1]

'सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार' निराला की यह पंक्ति केवल निराला के लिए ही नया नहीं था अपितु पूरे हिंदी साहित्य के लिए नया था। सौंदर्य का ऐसा चित्रण प्रगतिशील विचारधारा के आगमन के पश्चात् ही संभव हो सका। चूँकि मार्क्सवादी समीक्षा तथा चिंतन की पद्धति यथार्थ के धरातल पर ही अधिक जोर देता है, उसका सीधा–सीधा प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी देखने को मिलता है। मार्क्स के विचार को 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' के नाम से जाना गया है। जिसे दूसरे रूप में 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के नाम से भी जाना गया है। मार्क्स के चिंतन में समाज के आर्थिक संदर्भों पर ही अधिक जोर दिया गया है। जिसमें उन्होंने वर्ग–संघर्ष को ही अपने सिद्धांत का बुनियादी तत्व बताया है। समाज में वर्ग–संघर्ष का रूप इतना व्यापक है कि इसमें रचनाकार, चिंतक, कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अपना पक्ष चुने। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार इस संघर्ष में कलाकार, रचनाकार को 'जन' की पक्षधरता करने पर जोर दिया गया है। इसके अनुसार कला, कला के लिए न होकर उसमें ऐसे तत्वों को समाहित किया जाना चाहिए कि उसका सरोकार समाज से जुड़ सके। लेकिन हम जानते हैं कि ऐसा बहुत कम ही हो पाया है। यह बात सर्वविदित है कि जनता के संघर्ष के लिए लड़ना बहुत साहस का काम होता है। इस संघर्ष में परिश्रम के साथ–साथ जोखिम उठाना पड़ता है। जिसके लिए बहुत कम लोग ही हिम्मत कर पाते हैं। इस प्रकार साहित्य का समाज से संबंध एक बुनियादी प्रश्न है तथा इस प्रश्न को लेकर

आलोचकों में एक लंबी बहस भी रही है। देखा जाये तो साहित्य उद्भव के स्रोत समाज से ही मिलते हैं। एक रचनाकार और उसका पाठक वर्ग उसी समाज का होता है, जिस समाज में स्वयं रचनाकार लिखता, पढ़ता और अपने समाज की समस्याओं पर चिंतन करता है। यह जुड़ाव ही उसे प्रगतिशील बनाता है तथा उसकी प्रतिबद्धता को तय करता है। हिंदी साहित्य में 1943 तक आते–आते इसी फ्रायडवादी सिद्धांत को आधार बनाकर आलोचकों का एक वर्ग तैयार हुआ, जिनके द्वारा प्रगतिवादियों की घोर आलोचना की गयी। इन गैर मार्क्सवादी चिंतकों में मुख्य रूप से धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही और अज्ञेय की मुख्य भूमिका रही। इस वर्ग द्वारा यह मांग की गई कि साहित्य को अंततः स्वायत्त होना चाहिए। साथ ही यह भी कि साहित्य और समाज के संबंधों को वैचारिक आधार पर न मानकर बिना किसी वर्ग विशेष की पक्षधरता किए स्वाभाविक संबंध को महत्व दिया जाना चाहिए। एक प्रकार से कला को कलाकार की स्वतंत्र चित्त की अभिव्यक्ति घोषित करने पर जोर दिया गया।

इस प्रकार हिंदी आलोचना तथा साहित्य के भीतर जहाँ मार्क्सवाद के प्रभाव ने नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिसका सरोकार समाज के वंचित तबकों की पक्षधर ही मुख्य थी। उसके स्थान पर समय और परिस्थितियों ने 'प्रयोगवाद' को जन्म दिया। हिंदी साहित्य में साहित्यिक आधार पर 'प्रयोगवाद' का उद्घोष 'तार सप्तक' 1943 के साथ हुआ। इस वाद का जन्म ही प्रगतिवाद पर इस आरोप के साथ हुआ कि प्रगतिवादी मूलतः बौद्धिकता से लैस तथा व्यक्ति स्वतंत्रता की उपेक्षा करते हैं। इस विरोध को बड़े स्तर पर दर्ज कराने के लिए दिसंबर 1944 में इलाहाबाद में गैर मार्क्सवादीयों द्वारा 'परिमल' नामक संस्था की स्थापना की गई। इस संस्था में डॉ० धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही तथा लक्ष्मीकांत वर्मा विशेष रूप से सक्रिय रहे। वैसे तो प्रयोगवाद का मुख्य आधार मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत को माना गया, जिसमें फ्रायड, एडलर, युंग जैसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का नाम प्रमुख रहा है। फ्रायड द्वारा व्यक्तिमन के तीन रूपों का वर्णन किया गया है– चेतन, पूर्व चेतन और अचेतन। इसमें 'चेतन मन' का सीधा संबंध सामाजिक जीवन तथा परिवेश से व्यक्ति के भौतिक संबंध के रूप में व्यक्त किया गया है, तो वहीं 'अचेतन' की स्थिति व्यक्ति मन की वह स्थिति है, जिन क्रियाओं का ज्ञान व्यक्ति को नहीं रहता लेकिन ये क्रियाएं निरंतर क्रियाशील रहकर अन्य रूप में व्यक्ति को प्रभावित करती रहती हैं। सीधे–सीधे कहें तो इसका संबंध व्यक्ति के उन इच्छाओं, आकांक्षाओं का समुच्चय है, जो वह समाज, परिवार जैसी संस्थाओं से छुपाकर अपने मन में ही दबाए रखता है। यही दमित इच्छाएं व्यक्ति के अचेतन मन में स्थान पाती हैं तथा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती रहती हैं। प्रयोगवादी साहित्य में व्यक्ति के इसी रूप की चर्चा सर्वाधिक है।

मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत के फलस्वरूप हिंदी साहित्य में बड़े परिवर्तन को देखा गया, जिसमें कला का प्रेरणास्रोत, उसका शिल्पपक्ष तथा उसके सृजन की पूरी प्रक्रिया को इसके बदलाव स्वरूप देख सकते हैं। अज्ञेय कहते हैं कि – '' अभिनेता द्वारा प्रस्तुत किए गए चरित्र को हम अपना वक्तव्य उत्तम पुरुष एकवचन में देने का अधिकार देते हैं, अभिनेता को वह अधिकार हम नहीं देते यानी एक चेहरा, मास्क अथवा पर्सोना हमें स्वीकार है, स्वयं नट हमें स्वीकार नहीं है। काव्य में इस बात का महत्व है। काव्य में बोलने वाला हर 'मैं' पर्सोना होता है, अभिनेय चरित्र होता है। जब कवि स्वयं अपनी बात भी कहता है तो वह हमें तभी स्वीकार होती है जब वह कथ्य अथवा वक्तव्य प्रत्यक्ष रूप से कवि का न होकर एक पर्सोना अथवा अभिनेय चरित्र के रूप में उसका हो।''[3] हिंदी साहित्य में रचना प्रक्रिया तथा उसके तकनीक को लेकर इतनी गंभीरता से चिंतन संभवतः पहली बार ही किया जा रहा था। इससे पहले साहित्य में समाज के जिन रूपों का चित्रण किया गया, उसमें व्यक्ति की जगह समूह को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा।

हिंदी साहित्य पर मनोविश्लेषणवादी विचारधारा के प्रभाव से तत्कालीन भारतीय सामाजिक परिवेश को ठीक–ठीक व्यक्त करने में भी साहित्यकारों को मदद मिली। तत्कालीन हिंदी उपन्यासों में जिस प्रकार से व्यक्ति के अंतर्मन के द्वंद्व को प्रस्तुत किया गया है, ऐसा प्रयास इससे पहले कहीं नहीं दिखता। देखा जाये तो 1944–45 का दौर भारतीय समाज का सर्वाधिक संवेदनशील दौर रहा है। एक तरफ जहां पूरी दुनिया विश्व युद्ध के प्रभाव में थी, तो दूसरी तरफ भारत ऐसी परिस्थितियों का दोहरा मार झेल रहा था। यही वह समय था जब भारत के भीतर अलगाव की राजनीति अपने चरम पर थी। एक तरफ मुस्लिम नेताओं द्वारा अपने लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र, नहीं तो अलग देश 'पाकिस्तान' की मांग की जा रही थी, तो दूसरी तरफ अंग्रेजी हुकूमत से स्वाधीन होने की लड़ाई अपने चरम पर थी। ऐसे में भारतीय युवा वर्ग के भीतर जो चेतना तैयार हो रही थी, उसका असर 1947 में सांप्रदायिक दंगे के रूप में दिखा। जिसमें हजारों–लाखों लोग बेघर हुए, मारे गए। ऐसी तमाम घटनाओं से उत्पन्न परिवेश का असर मनोविश्लेषणवादी रचनाओं में देखा जा सकता है।

प्रयोगवादी रचनाकारों द्वारा व्यक्ति के साथ–साथ साहित्य के कलात्मक सौंदर्य पर भी अपनी विशेष रूचि व्यक्त की गई। देखा जाये तो जब–जब साहित्य में नई प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है, तब–तब साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होते रहे हैं। खासतौर पर यह परिवर्तन विचारधाराओं के आगमन के पश्चात् और अधिक गहरे रूप में देखा जा सकता है। मसलन मार्क्सवाद के प्रभाव से साहित्य में समाज के शोषित वर्ग का आगमन हुआ, भाषा

सरल–सहज हुई, काव्य की शैली यथार्थपरक हुई तो वहीं, मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव से प्रयोगवाद के जन्म ने साहित्य में नये बिम्बों का प्रयोग, व्यक्ति स्वातंत्र की बात तथा कलात्मक रूप से साहित्य को उत्कृष्ट करने पर अधिक जोर दिया। अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' में हम इस विशेषता को देख सकते हैं– हम नदी के दीप हैं / हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाए / वह हमें आकार देती है /...किंतु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है / हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।[4]

अज्ञेय, रचना प्रक्रिया तथा उसके आस्वादन को लेकर रचनाकार तथा पाठक के बौद्धिक पक्ष को ही अधिक महत्व देते हैं तथा इस बात पर भी जोर देते हैं कि सौंदर्य की अनुभूति भी मूलतः बुद्धि तत्व का ही व्यापार है। अज्ञेय इलियट की ही तरह रचना को अधिक महत्व देते हैं बजाए रचनाकार को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी मान्यता रही है की कवि या रचनाकार तो केवल एक माध्यम भर होता है। अज्ञेय इससे भी आगे अपने एक निबंध में कहते हैं कि मैं स्वान्तः सुखाय के लिए नहीं लिखता क्योंकि आत्माभिव्यक्ति अपने आप में संपूर्ण है क्या ? यह प्रश्न अज्ञेय स्वयं से भी करते हैं तथा अपने पाठकों से भी। वे लिखते हैं– '' मैं 'स्वान्तः सुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य कवियों की भांति अहम् मुझमें भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है ; पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने–आप में संपूर्ण है ?''[5]

अज्ञेय अपने इन विचारों से ऐसी कई मान्यताओं को खंडित करते हैं, जो हिंदी साहित्य में सदियों से बनी हुई थी। 'स्वान्तः सुखाय' की बात तुलसीदास ने भी की थी 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' परंतु अज्ञेय द्वारा इस मान्यता को भी सिरे से नकार दिया गया। देखा जाये तो अपने संपूर्ण प्रयासों में अज्ञेय प्रयोगधर्मी ही अधिक रहे हैं। उनके प्रयोगात्मक प्रयासों के आधार पर ही 'तार सप्तक' 1943 को हिंदी साहित्य में 'प्रयोगवाद' का नाम दिया गया। यह प्रयोग रचना में भाषा, कथ्य, विचारधारा, शिल्प, बिम्ब के रूप में देखा जा सकता है। इन प्रयोगों को साहित्य के विधात्मक रूप में देखा जाए तो, ये प्रयोग विशेष रूप से कविता को लेकर अधिक हुए हैं। इस काल में लंबी कविताओं की परंपरा को देखा जा सकता है। वैसे तो लंबी कविता लिखने की परंपरा इससे पीछे छायावाद और प्रगतिवाद में भी दिखाई देती है लेकिन प्रयोगवाद तथा नई कविता तक आते–आते इस परंपरा को और विकसित किया गया। इस प्रकार अपनी सम्पूर्णता में प्रयोगवाद हिंदी साहित्य के लिए विशेष महत्व

रखता है। इसके आह्वाहन से ही व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता के बारे में सोचने, समझने की शुरुआत हो सकी। साथ ही साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाव से मानव मन की आंतरिक समस्याओं को समझने में मदद मिली।

इस प्रकार 'प्रयोगवाद' घोर आलोचना से गुजरने के बाद भी, हिंदी साहित्य में अपनी मान्यताओं की स्वीकृति दिलाने में सफल रहा। अज्ञेय जिस तरह से बार–बार यह आग्रह करते हैं कि उनके प्रयास 'तार सप्तक' को प्रयोगवादी कहना ठीक नहीं है। ठीक उसी प्रकार नई कविता के संदर्भ में उसके प्रतिपादकों द्वारा आग्रह किया जाता रहा है कि उनकी समस्त अभिव्यक्ति स्वतंत्र है। उसका प्रयोगवाद से कोई लेना–देना नहीं है। बावजूद इसके 'तार सप्तक' और 'नई कविता' के प्रयासों को एक करके 'प्रयोगवाद' से जोड़ने की कोशिश की जाती है। इसके पीछे के कारणों को अगर हम देखे तो पाते हैं कि तार सप्तक तथा नई कविता के ही प्रयासों से हिंदी साहित्य में 'प्रगतिवाद' का खंडन हुआ तथा जिन नई मान्यताओं के साथ साहित्य में नए रूपों की प्रतिष्ठा की गई, उससे ही 'प्रयोगवाद' का भी जन्म हुआ। मसलन प्रयोगवाद में जिन विशेषताओं को गिनाया जाता है, वे विशेषताएं अज्ञेय तथा अन्य गैर मार्क्सवादियों द्वारा भी गिनाया जाता है। उनके प्रयोगधर्मी विशेषता के कारण ही उन्हें 'प्रयोगवादी' कहने का चलन हिंदी के दूसरे आलोचकों में बड़ा। अन्यथा प्रयोगवाद से अज्ञेय की मान्यताओं तथा नई कविता की मान्यताओं को निकाल दिया जाए तो प्रयोगवाद में बचेगा ही क्या ?

हिंदी साहित्य में 'नई कविता' नामक पत्रिका की शुरुआत जगदीशचंद्र गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही द्वारा किया गया। यह पत्रिका मूलतः 'परिमलवादी' विचारों तथा मार्क्सवाद के विरोध स्वरूप निकाला गया। हिंदी कविता में आ रही समस्याओं को सुलझाने का प्रयास भी इस पत्रिका का मुख्य लक्ष्य रहा। इस आग्रह के साथ की नई कविता का स्वतंत्र रूप है, स्वयं अज्ञेय की मान्यताओं से भी इसका लेना–देना नहीं है। इस संदर्भ में जगदीश गुप्त लिखते हैं–'' सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि 'तीसरा सप्तक' के संकलनकर्ता और संपादक 'अज्ञेय' द्वारा लिखित उसकी भूमिका में जो विचार 'नई कविता' और 'नए कवि' के विषय में व्यक्त किए गए हैं उनसे न केवल इस कविता का स्वर टकराता है वरन् कुछ अंशों तक उसका खंडन भी करता है।''[6]

नई कविता के प्रतिपादकों द्वारा इस बात पर जोर दिया गया कि नई कविता तथा नए कवि के भीतर प्राचीन रूढ़िवादी मान्यताओं को लेकर किसी भी प्रकार का मोह नहीं है और न ही नए के प्रति बेरुखी। अज्ञेय जहां कविता के सौंदर्यबोध, उसके आस्वादन तथा उसकी रचना में मस्तिष्क की बड़ी भूमिका मानते हैं, वहीं

जगदीश गुप्त द्वारा काव्य आस्वाद के विभिन्न रूपों की चर्चा की गयी है। उनकी मान्यता है कि –'' कविता का आस्वादन उसकी वस्तु, उसकी शैली, उसके स्वर–सामंजस्य अथवा अर्थ–संगति आदि किसी अंश विशेष को दृष्टि में रखकर की जानी चाहिए।''[7]

नई कविता के प्रस्तुतकर्ता, कविता के संदर्भ में जिन तत्वों को गिना रहे हैं, वास्तव में ये तत्व नई कविता की विशेषता भी रहे हैं। नई कविता के भीतर जिन नवीनताओं की बात की गई, उन नवीनताओं के पीछे भाषा, शिल्प, विषय–वस्तु ही तो मुख्य रूप से उल्लेखनीय रहे हैं। विजयदेव नारायण साही का लिखा लेख 'लघु मानव के बहाने नई कविता पर एक बहस' विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। इस लेख में शाही जी सवाल उठाते हैं कि जिस लघु मानव का हामी बनकर हिंदी साहित्य उभरा था, क्या उसकी अब मृत्यु हो चुकी है ? शाही जी का आग्रह लघु मानव को हिंदी साहित्य में पुनः प्रतिष्ठित करने को लेकर भी है।

1951 में हिंदी साहित्य में आलोचना केंद्रित 'आलोचना' नामक त्रैमासिक पत्रिका का उद्भव, हिंदी साहित्य और आलोचना के परिपेक्ष्य में महत्वपूर्ण रहा है। शिवदान सिंह चौहान द्वारा इस पत्रिका के संपादन के संदर्भ में कुछ मूलभूत लक्ष्य निर्धारित किए गए थे। उन चिंताओं को 'आलोचना' प्रथम अंक के संपादकीय में देखा जा सकता है। इस पूरे संपादकीय लेख में शिवदान सिंह द्वारा हिंदी आलोचना तथा विचारधारा के प्रभाव से साहित्य में हो रहे परिवर्तनों को देखा जा सकता है। इस लेख में उन तमाम विषमताओं का जिक्र किया गया है, इसके कारण साहित्य में अराजकता की स्थिति को पैदा हुई। वे लिखते हैं– ''प्रगतिवादी आलोचना ने साहित्य के नए वैज्ञानिक मान–मूल्यों का निर्धारण करने की ओर प्रवृत्त दिखाई और सामाजिक जीवन और संघर्ष के व्यापक प्रश्नों से साहित्य का संबंध कराने की चेष्टा में उसने अनेक प्रचलित शुद्ध कला वादी, असामाजिक और प्रतिगामी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं से संघर्ष भी किया। प्रगतिवादी आलोचना यदि इसी प्रकार अपने वैज्ञानिक और विचारात्मक पथ पर अग्रसर होती रहती तो संभवतः आज की–सी अराजकता न फैली होती। हमारा आलोचना–साहित्य अधिक संपूर्ण और उच्च कोटि का होता।''[9]

शिवदान सिंह चौहान यह चिंता 1951 में व्यक्त कर रहे थे। जबकि प्रगतिवाद का दौर 1936 से 1943 के आसपास रहा है। दूसरी जो महत्वपूर्ण बात है, वह यह कि शिवदान सिंह चौहान द्वारा प्रगतिवाद को साहित्य तथा आलोचना के विकास के लिए प्रमुख माना गया है। मसलन प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद तथा नई कविता, जिसमें व्यक्ति विशेष को अधिक महत्व दिया गया है, उसको शिवदान सिंह उतना महत्व नहीं देते हैं। चूँकि हम जानते हैं

कि शिवदान सिंह मार्क्सवादी चिंतक रहे हैं और मार्क्सवाद के प्रभाव से हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म हुआ, जिसके विरुद्ध प्रयोगवाद को खड़ा किया गया। देखा जाए तो यह झगड़ा विचारधारा से ही उत्पन्न हुआ है। जिसमें साहित्य को लेकर उसकी अलग–अलग विशेषताओं पर बहस होते रहें हैं। 1936 के लखनऊ अधिवेशन में साहित्य के संदर्भ में जिन उद्देश्यों को लेकर चर्चा की गई, एक प्रकार से इन बहसों का केंद्र बिंदु उसी के इर्द–गिर्द रहा है। 'प्रगतिशील लेखक संघ' द्वारा यह तय किया गया कि 'उपयोगिता' ही साहित्य और कला का मूल तत्व होना चाहिए। प्रेमचंद कहते हैं– '' मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूं। निस्संदेह का उद्देश्य सौंदर्य–वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद की कुंजी है ; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।''[10]

'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्षीय वक्तव्य में प्रेमचंद जिन उद्देश्यों को साहित्य के संदर्भ में प्रस्तुत किए हैं, उनमें मार्क्सवाद की बहुत बड़ी भूमिका रही है। यह उसी का असर था, जब साहित्य और कला का समाज सापेक्ष उपयोग पर ध्यान एकाग्र किया गया। इस प्रभाव से हिंदी साहित्य की जो जमीन तैयार हुई, उससे बाद के साहित्यकारों को सही दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली। यह अकारण नहीं है कि 50 के बाद हिंदी साहित्य में एक बार पुनः साठोत्तरी कविता और समकालीन साहित्य के नाम से सर्वहारा और समाज के शोषित वर्ग की पक्षधरता साहित्य का उद्देश्य बना। अपनी बौद्धिकता और व्यक्ति स्वातंत्र की पक्षधरता के बावजूद भी, प्रयोगवादी रचनाओं द्वारा समाज पर अधिक प्रभाव नहीं दिखाया जा सका और न ही जनता तथा समाज से उसका उस स्तर पर सरोकार हो सका, जितना प्रगतिवादियों द्वारा किया जा सका।

हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी तथा गैर मार्क्सवादियों के बीच बहस की एक लंबी परंपरा रही है। यह परंपरा खेमेबाजी के रूप में भी होती रही, जिसके कारण हिंदी साहित्य तथा आलोचना पर बुरा असर पड़ा। इस बहस में एक खेमा, समाज को अधिक महत्व देता है, तो दूसरा व्यक्ति को। एक में समाज का सर्वहारा, उसकी पीड़ा है, तो दूसरे में व्यक्ति का मन है तथा उसके मन की कुंठा, निराशा आदि मनोवृतियों को स्थान दिया गया है। दो अलग–अलग विचारधाराओं में मतभेद का होना तो समझ में आता है, पर 1947 के बाद प्रगतिशील लेखकों के भीतर ही विरोध के स्वर फूटने लगें। यह स्थिति निश्चित रूप से चिंताजनक रही है। इसका एक कारण कम्युनिस्ट पार्टी के आंतरिक संघर्ष को माना गया है। जिसका प्रभाव प्रगतिशील लेखक संघ पर भी दिखाई दिया। इस पूरे विवाद में

रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान अमृतराय, रांगेय राघव, प्रकाशचंद्र गुप्त और नामवर सिंह को भी देखा जा सकता है। इस विवाद के कई कारणों में एक कारण शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखे गए लेख 'साहित्य की परख' को बताया गया। इस लेख में उन्होंने राष्ट्र की संकीर्णताओं तथा समाज की कुत्सित मानसिकता की खुलकर आलोचना की है। जिसमें प्रगतिवादी आलोचकों की ओर भी संकेत किया गया है। दूसरी तरफ रामविलास शर्मा इस विवाद का कारण 1937 'विशाल भारत' पत्रिका में शिवदान सिंह चौहान के छपे लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' को बताया गया है। वे लिखते हैं– '' विवाद की शुरुआत मार्च–1937 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित शिवराज सिंह चौहान के लेख 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' से हुई। किसी मार्क्सवादी लेखक ने इसका समर्थन किया हो, याद नहीं ; सामान्य हिंदी लेखकों और पाठकों में इसके विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई, यह निश्चित है।"[11] रामविलास शर्मा इस विवाद का एक और कारण सितंबर 1947 के 'हंस' पत्रिका में अमृत राय द्वारा प्रगतिशील साहित्य के संबंध में पूछे गए प्रश्नों को भी मानते हैं। अमृतराय द्वारा कुल 7 प्रश्न पूछे गए हैं, जो प्रगतिशील साहित्य और उसकी प्रासंगिकता को लेकर हैं। जिनका जवाब रामविलास शर्मा द्वारा अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में दिया गया है।

दूसरे रूप में देखें तो प्रगतिशील साहित्य को लेकर जो विवाद पैदा हुआ, उसमें इतनी बहसे हुई उसका सीधा–सीधा फायदा हिंदी साहित्य को हुआ। साहित्य और समाज, कला और संस्कृति, विचारधारा का महत्व आदि विषयों पर तो चर्चा हुआ ही, साथ ही चिंतन के ऐसे पहलू भी निकलकर सामने आए जो अबतक हिंदी पाठकों के समक्ष स्पष्ट नहीं थे। जैसे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता, हिंदी साहित्य की परंपरा और उसका संबंध, कला और विचारधारा का संबंध, प्रगतिशील आलोचना के मानदंड, साहित्य और राजनीति में संबंध जैसे अनेक विषयों पर सार्थक बहसे हुई। जिससे हिंदी आलोचना को नया मार्ग तो मिला ही, साथ ही कई अनसुलझे संदर्भों को भी साफ किया जा सका। इस प्रकार अपने समस्त रूपों में यह विमर्श सफल रहा है, जिसका आधार लेकर 'आलोचना' नामक पत्रिका का उद्भव हिंदी साहित्य में हो सका।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. राग–विराग (निराला की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संकलन) संपादक : रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, षष्टम संस्करण–1980, पृष्ठ संख्या–118 –119

2. मुक्तिसंघर्ष और साहित्यकार की भूमिका : विजय बहादुर सिंह, साहित्य संस्थान, संस्करण 2015, पृष्ठ संख्या 13–14
3. चौथा सप्तक, संपादक :अज्ञेय, प्रकाशक– सरस्वती विहार, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1979, पृष्ठ संख्या 12
4. सदानीरा भाग–1, संपादक : अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1986, पृष्ठ संख्या 252
5. आत्मनेपद : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1960, पृष्ठ संख्या 37
6. नई कविता : (सैद्धांतिक पक्ष) संपादक : जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2000, संख्या 50
7. वही पृष्ठ संख्या 18
8. नई कविता (सैद्धांतिक पक्ष) संपादक, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2000, पृष्ठ संख्या 37
9. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका) संपादक : शिवदान सिंह चौहान, प्रथम अंक, प्रथम वर्ष, पृष्ठ संख्या 1 (संपादकीय से)
10. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचंद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण 2001, पृष्ठ संख्या 18–19
11. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984, पृष्ठ संख्या 5

इमरान अंसारी, पूर्व–शोधार्थी, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

मो० 9573757203